तीर्थंकर महावीरकी धर्मतत्त्व-देशना

आगम और आगमाभासकी परिभाषा

परीक्षामुखसूत्र ग्रन्थके तृतीय समुद्देशमें आगमकी परिभाषा निम्न प्रकार बतलायी गयी है—

आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः।३-९९।

अर्थ—आप्तके वचन आदिके आधारपर जो पदार्थ-ज्ञान हमें होता है वह आगम है।

सूत्रमें 'वचन' शब्दके आगे पठित 'आदि' शब्दका अभिप्राय सूत्रकी टीका प्रमेयरत्नमालामें अंगुलि आदिके संकेतोंके रूपमें ग्रहण किया गया है।[1] अतः जिस प्रकार आप्तके वचनोंके आधारपर हमें होने वाला पदार्थ-ज्ञान आगम है उसी प्रकार उसकी अंगुल्यादिके संकेतोंके आधारपर हमें होनेवाला पदार्थ-ज्ञान भी आगम है।

यह परिभाषा भावात्मक आगमकी है। लेकिन सूत्रका यह भी आशय है कि हमें उपर्युक्त प्रकारसे होनेवाले ज्ञानरूप भावात्मक-आगमके उद्भवमें निमित्तभूत आप्तके वचनों और उसकी अंगुलि आदिके संकेतोंको द्रव्यात्मक-आगम जानना चाहिए। स्वामी समन्तभद्रने वचनरूप द्रव्यात्मक-आगमकी रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें निम्न लिखित परिभाषा बतलाई है—

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्॥९॥

अर्थ—शास्त्र (वचनरूप द्रव्यात्मक-आगम) वह है, जो आप्तके द्वारा कहा गया हो, अन्य मतों द्वारा अकाटच हो, दृष्ट (प्रत्यक्ष) और इष्ट (अनुमान) द्वारा अबाधित हो, तत्त्व (तथ्यात्मक[2] व सत्यात्मक[3] प्रयोजनभूत वस्तु)का प्रतिपादक हो, सम्पूर्ण जीवोंके लिए हितकर हो और कुमार्ग (जीवोंके लिए अहितकर मार्ग) का निषेध करने वाला हो।

स्वामी समन्तभद्रने उक्त परिभाषामें आगमका प्रत्यक्ष और अनुमानसे समर्थित होना न बतलाकर जो "अदृष्टेष्टविरोधकम्" पद द्वारा प्रत्यक्ष और अनुमानसे अबाधित होना बतलाया है, इसका अभिप्राय यह है कि आप्तके वचनरूप सम्पूर्ण द्रव्यात्मक-आगमका हमारे प्रत्यक्ष और अनुमानसे अल्पज्ञ होनेके कारण समर्थित होना सम्भव नहीं है, लेकिन अबाधित होना अवश्य सम्भव है—इस तरह आप्तके वचनरूप जो द्रव्यात्मक-आगम हमारे प्रत्यक्ष और अनुमानसे समर्थित हो, वह तो आगम है ही, लेकिन आप्तके वचनरूप जो द्रव्यात्मक-आगम हमारे प्रत्यक्ष और अनुमानसे अबाधित हो, उसे भी आगम जान लेना चाहिए।

परीक्षामुखसूत्र ग्रन्थके उक्त सूत्रमें व रत्नकरण्डकश्रावकाचारके उक्त पद्यमें पठित 'आप्त' शब्दसे यह भी निर्णीत होता है कि पुरुष आप्त और अनाप्तके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। उनमेंसे आप्तके वचन व उसकी अंगुलि आदिके संकेत ही आगम हैं, अनाप्तके वचन और उसकी अंगुलि आदिके संकेत आगम नहीं हैं। अतः अनाप्तके वचन व उसकी अंगुलि आदिके संकेतोंको आगमाभास जानना चाहिए।

---

१. आदिशब्देनांगुल्यादिसंज्ञापरिग्रहः।

२. परनिरपेक्ष (स्वतःसिद्ध) वस्तुस्थितिरूप।

३. परसापेक्ष वस्तुस्थितिरूप।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आप्त और अनाप्तके लक्षण

स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें ही आप्तका लक्षण निम्न प्रकार बतलाया है—

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना ।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥५॥

अर्थ—जो अपने सम्पूर्ण दोषोंको नष्ट कर चुका हो, सर्वज्ञ हो गया हो और धर्म-मार्गका प्रवर्तक बन चुका हो, उसे ही आप्त जानना चाहिए, क्योंकि इन तीन गुणोंके प्रकट हुए बिना आप्तता सम्भव नहीं है।

परीक्षामुखसूत्र ग्रन्थके उपर्युक्त सूत्रकी टीका प्रमेयरत्नमालामें आप्तका लक्षण निम्न प्रकार निश्चित किया गया है—

यो यत्रावंचकः स तत्राप्तः ।

अर्थ—जो पुरुष जिस विषयमें अवंचक है अर्थात् दूसरोंके साथ ठगाई नहीं करता है, वह पुरुष उस विषयमें आप्त है।

रत्नकरण्डकश्रावकाचार और प्रमेयरत्नमालाके उपर्युक्त उद्धरणोंसे यह बात निर्णीत होती है कि सर्वज्ञ तो आप्त होता ही है क्योंकि वह पूर्ण वीतरागी हो जानेसे सर्वथा अवंचकवृत्ति हो जाता है। लेकिन अल्पज्ञ भी यदि किसी विषयमें अवंचकवृत्ति हो तो उसे भी उस विषयमें आप्त जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि हितकर उपदेशका नाम आगम है और जो हितकर उपदेश देता है वह आप्त है। उस उपदेशकी हित-कारिताका आधार उपदेश देनेवाले पुरुषकी अवंचक-वृत्ति ही हुआ करती है तथा अवंचकवृत्तिका निर्णय उसमें (उपदेश देनेवाले पुरुषमें) पाई जानेवाली वीतरागता (निःस्वार्थवृत्ति) से होता है। अतः आप्तताका निर्णय पुरुषमें विद्यमान वीतरागता (निःस्वार्थवृत्ति)के आधारपर ही करना चाहिए। इस तरह सर्वज्ञके साथ अल्पज्ञ भी आप्तकी कोटिमें गर्भित हो जाता है।

उक्त कथनसे यह भी सिद्ध होता है कि अल्पज्ञ भी सर्वज्ञकी तरह तभी आप्त हो सकता है जब कि वह अवंचक वृत्ति हो। इसका फलितार्थ यह है कि अल्पज्ञ आप्त और अनाप्तके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। उनमेंसे जो अल्पज्ञ अपनेमें यथासम्भव पाई जानेवाली वीतरागता (निःस्वार्थ वृत्ति) के आधारपर अवंचक वृत्ति होते हैं, वे आप्त कहलाते हैं और जो अल्पज्ञ अपनेमें पाई जानेवाली सरागता (स्वार्थपूर्ण वृत्ति)के आधार-पर वंचकवृत्ति होते हैं, वे अनाप्त कहलाते हैं।

आगम और आगमाभासका प्रवर्तन

आगम और आगमाभासका प्रवर्तन अनादिकालसे चला आ रहा है, जिसका विवेचन इस प्रकार है कि निश्चयकाल (स्वतःसिद्ध कालनामा पदार्थ) नित्य (अनादिसे अनन्त काल तक रहनेवाला) है। इस निश्चय-कालकी पुद्गल-परमाणुके अत्यन्त मन्द-गमनके आधारपर विभक्त अखण्ड-वृत्तिरूप समय और यथा-योग्य समयोंके समूहरूप आवली, घड़ी, मुहूर्त, घण्टा, प्रहर, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष तथा वर्षोंके भी समूह—यह सब व्यवहारकाल है। यद्यपि ये सब निश्चय-कालकी पर्याएँ है परन्तु इन्हें व्यवहार-काल इसलिए कहते हैं कि इनका अस्तित्व मूलतः परवस्तुभूत पुद्गल-परमाणुके अत्यन्त मन्द गमनके आधार-पर निष्पन्न होनेसे इनमें पराश्रितता पाई जाती है।

इस व्यवहारकालका प्रवर्तन प्रवाहरूपसे अनादिकालसे चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चलता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जायगा । आगममें बतलाया गया है कि व्यवहारकालका यह प्रवर्तन एकके बाद एक कल्पके रूपमें चल रहा है । एक कल्पकी मर्यादा बीस कोड़ाकोड़ी सागर वर्षोंकी है, जो कि असंख्यात वर्ष प्रमाण होती है ।

प्रत्येक कल्प भी अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीके रूपमें अपना प्रवर्तन किया करता है । अवसर्पिणी वह है, जिसमें मानव-समाज अपनी उच्चतम स्थितिको एक-एक समयके आधारपर धीरे-धीरे समाप्त कर क्रमशः हीनतम स्थिति तक पहुँचता है और उत्सर्पिणी वह है, जिसमें मानव-समाज अपनी हीनतम स्थितिको एक-एक समयके आधारपर ही धीरे-धीरे समाप्त कर क्रमशः उच्चतम स्थिति तक पहुँचता है । इस तरह अवसर्पिणीका प्रवर्त्तन सुषमा-सुषम (अत्यन्त सुखमय समय), सुषमा (सुखमय समय), सुषमा-दुःषमा (दुःख मिश्रित सुखमय समय), दुःषमा-सुषमा (सुखमिश्रित दुःखमय समय), दुःषमा (दुःखमय समय) और दुःषमा-दुःषमा (अत्यन्त दुःखमय समय)—इन छह भेदोंके रूपमें तथा इसके पश्चात् उत्सर्पिणीका प्रवर्तन दुःषमा-दुःषमा (अत्यन्त दुःखमय समय), दुःषमा (दुःखमय समय), दुःषमा-सुषमा (सुखमिश्रित दुःखमय समय), सुषमा-दुःषमा (दुःखमिश्रित सुखमय समय), सुषमा (सुखमय समय) और सुषमा-सुषमा (अत्यन्त सुखमय समय) इन छह भेदोंके रूपमें हुआ करता है । इससे यह निष्कर्ष निकला कि क्रमशः एकके बाद एकके रूपमें अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीका प्रवर्तन होते हुए अनादिसे अबतक अनन्त कल्पकाल व्यतीत हो चुके हैं तथा आगे इन बीते हुए कल्प-कालोंसे अनन्तगुणे कल्पकाल व्यतीत हो जानेपर भी काल-द्रव्य (निश्चयकाल) का अस्तित्व अनादि-निधन होनेसे कल्पकालोंका प्रवर्तन कभी समाप्त नहीं होगा ।

प्रत्येक कल्पकालकी अवसर्पिणीके चतुर्थ दुःषमा-सुषमा भागमें और प्रत्येक उत्सर्पिणीके तृतीय दुःषमा-सुषमा भागमें संसारी जीवोंके लिए मोक्ष-प्राप्तिके साधनभूत धर्म-तीर्थका प्रवर्तन करनेवाले चौबीस महापुरुष उत्पन्न होते हैं, जिन्हें आगममें 'तीर्थंकर' नामसे पुकारा गया है । इस तरह अनादि-कालसे अबतक अनन्त तीर्थंकरोंकी अनन्त चौबीसियाँ हो चुकी हैं और आगे भी सतत तीर्थंकरोंकी चौबीसियोंके होनेका यही क्रम चलता जायगा ।

प्रत्येक तीर्थंकरने अपने समयमें अपनी दिव्यवाणी (दिव्यध्वनि) द्वारा जो धर्मतीर्थका उपदेश संसारी जीवोंको दिया था, उसे आगममें 'देशना' नामसे पुकारा गया है और उस देशनाको तथा उस देशनाके आधारपर गणधर आदि अल्पज्ञ आप्तों द्वारा ग्रथित उपदेशको 'आगम' नामसे पुकारा गया है । इस तरह कहना चाहिए कि आगमका प्रवर्तन अनादि-कालसे चला आ रहा है और अनन्त कालतक चलता जायगा । यही स्थिति आगमाभासके प्रवर्तनकी समझना चाहिए ।

वर्तमान आगमकी आधारभूमि

वर्तमानकाल अवसर्पिणीका पंचम भाग दुःषमाकाल है । इससे २५१४ वर्ष पूर्व इसी अवसर्पिणीका चतुर्थ भाग दुःषमा-सुषमा काल चल रहा था । उस समय तक इस अवसर्पिणीमें होनेवाले चौबीस तीर्थंकरोंमें अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर इस भारतभूमिपर विद्यमान थे, जिन्होंने अपनी पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञताके आधारपर जगत्के प्राणियोंको हितकारी उपदेश दिया था, जिसे तीर्थंकर महावीरकी देशना कहते हैं । यद्यपि तीर्थंकर महावीरकी वाणी आज हमें उपलब्ध नहीं है, फिर भी उनकी वाणीके आधारपर उत्तरोत्तर अल्पज्ञ आप्तों द्वारा रचित आगम वर्तमानमें भी उपलब्ध है, जिसके द्वारा उनकी (तीर्थंकर महावीरकी) देशनाकी झांकी हमें वर्तमानमें भी उपलब्ध हो रही है । इस तरह कहना चाहिए कि वर्तमान आगम यद्यपि अल्पज्ञ आप्तों द्वारा रचा गया है, परन्तु उसकी आधारभूमि तीर्थंकर महावीरकी देशना ही है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अल्पज्ञको आप्त माननेका प्रयोजन

ऊपर कहा गया है कि वर्तमानमें जितने कल्याणकारी उपदेशके रूपमें आगम उपलब्ध है वह साक्षात् तीर्थंकर महावीरकी वाणी नहीं है, अल्पज्ञ आप्तोंकी ही वाणी है। अब यदि अल्पज्ञोंको आप्त नहीं माना जाता तो सर्वज्ञके अभाव रहनेके कारण वर्तमानमें कल्याणकारी मार्ग समाप्त हो जाता। दूसरी बात यह है कि अल्पज्ञको आप्त न माननेपर लोक-व्यवहारकी चल रही सम्पूर्ण व्यवस्था ही छिन्न-भिन्न हो जाती। तीसरी बात यह भी है कि सर्वज्ञकी सत्ता और उसके उपदेशकी प्रामाणिकताका निर्णय हम अल्पज्ञ आप्तों द्वारा विरचित आगमके आधारपर ही तो वर्तमानमें कर सकते हैं। अतः अल्पज्ञको आप्त न माननेपर सर्वज्ञकी सत्ता और उसके उपदेशकी प्रामाणिकताके निर्णयके लिए आधार ही समाप्त हो जाता। ये सब कारण हैं जिसकी वजहसे अल्पज्ञको भी आप्त मानना अनिवार्य हो जाता है। इतनी बात अवश्य है और जैसा कि पूर्व में बतलाया भी जा चुका है कि सर्वज्ञकी आप्तता तो असंदिग्ध है क्योंकि वह पूर्ण वीतरागी हो जानेसे सर्वथा अवंचक वृत्ति हो जाता है परन्तु अल्पज्ञकी आप्तताका निर्णय उसमें अवंचक वृत्तिका निर्णय हो जानेपर ही हो सकता है ऐसा जानना चाहिए। फिर भी जैसे सर्वज्ञका उपदेश जीवोंको हितकर होनेसे आगम कहलाता है वैसे ही अल्पज्ञ आप्तोंके उपदेशको भी जीवोंको हितकर होनेसे आगम मानना चाहिए।

सर्वज्ञसे अल्पज्ञ-आप्तके उपदेशमें अन्तर भी है

यद्यपि ऊपर यह बतलाया गया है कि जिस प्रकार सर्वज्ञका उपदेश जीवोंको हितकर होनेसे आगम कहलाता है। उसी प्रकार अल्पज्ञ आप्तोंके उपदेशको भी जीवोंको हितकर होनेसे आगम मानना चाहिए। परन्तु सर्वज्ञसे अल्पज्ञ आप्तके उपदेशमें यह अन्तर भी समझना चाहिए कि जहाँ सर्वज्ञका उपदेश उसकी सर्वज्ञताके कारण हमारे प्रत्यक्ष और अनुमानसे नियमतः समर्थित या अबाधित होनेसे निर्विवाद रूपसे आगम कहलाता है, वहाँ अल्पज्ञ आप्तका उपदेश उसकी अल्पज्ञताके कारण जबतक हमारे प्रत्यक्ष और अनुमानसे समर्थित या अबाधित रहेगा तभी तक वह आगम कहलावेगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अल्पज्ञ आप्तका कोई उपदेश यदि कालान्तरमें प्रत्यक्ष या अनुमानसे बाधित हो जाय, तो उसे तब हमारे लिए आगम न माननेमें कठिनाई नहीं होना चाहिए।

उदाहरणके रूपमें यह कहा जा सकता है कि चन्द्रमाकी रचना और भूमितलसे उसकी दूरी जिस रूपमें आगममें बतलायी गई है, उससे विलक्षण ही चन्द्रमाकी रचना और भूमितलसे उसकी दूरी, उत्कर्षकी एक सीमा तक पहुँचे भौतिक विज्ञानने निर्णीत की है, जिसे अस्वीकार करना सम्भव नहीं है, इसलिये इस सम्बन्धमें यही मानना श्रेयस्कर है कि वर्तमान आगमके रचयिता आप्त चूँकि अल्पज्ञ थे, अतः तथ्यपूर्ण स्थिति-का पता लगानेके साधनोंकी कमीके कारण जैसा उनकी समझमें आया वैसा प्रतिपादन चन्द्रमाकी रचना और भूमितलसे उसकी दूरी आदिका उस समय उन्होंने वर्णन किया था। इस प्रतिपादनको सर्वज्ञ आप्तके उपदेशके आधारपर किया हुआ नहीं समझना चाहिए। कारण कि सर्वज्ञके ज्ञानमें असंख्य परमाणुओंके पिण्ड-स्वरूप चन्द्रमाका प्रत्येक परमाणु अपनी परिणतियोंके साथ पृथक्-पृथक् ही प्रतिभाषित हो रहा है, ऐसी दशामें उसको उन समस्त परमाणुओंका चन्द्र पिण्डरूपसे ज्ञान होना सम्भव नहीं है तथा श्रुतज्ञानका अभाव हो जानेसे श्रुतज्ञानकी विषयभूत चन्द्रमाकी भूमितलसे दूरी आदिका ज्ञान भी सर्वज्ञको सम्भव नहीं है, अतः निर्णीत होता है कि इन बातोंका प्रतिपादन सर्वज्ञ द्वारा नहीं किया गया है।

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि सर्वज्ञ स्वतः-सिद्ध, अनादि-निधन और अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ताविशिष्ट प्रत्येक वस्तुका दृष्टा और ज्ञाता है तथा प्रत्येक वस्तुकी स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय सभी पर्याएँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी वस्तुरूपसे उसके दर्शन और ज्ञानमें प्रति समय प्रतिबिम्बित और प्रतिभासित होती हैं। दो आदि वस्तुओं-का संयोग या बन्ध (मिश्रण) उनके दर्शन और ज्ञानमें प्रतिबिम्बित और प्रतिभासित नहीं होता है। इसका कारण यह है कि संयुक्त अथवा बद्ध (मिश्रित) वस्तुओंकी अखण्ड एकरूपता कदापि सम्भव नहीं है क्योंकि एक वस्तुके गुण-धर्म कभी दूसरी वस्तुमें प्रविष्ट नहीं हो सकते हैं। जैसे द्व्यणुक दो पुद्गल परमाणुओंके बन्ध (मिश्रण) से बना है, परन्तु उसमें प्रत्येक परमाणु एक-दूसरे परमाणुके निमित्तसे अपना-अपना पृथक्-पृथक् ही परिणमन कर रहा है। दोनों परमाणुओंका एक परिणमन नहीं हो रहा है। अतः जब दो परमाणु मिलकर एक परिणमन नहीं कर रहे हैं, तो वे उस मिले हुए रूपमें सर्वज्ञके ज्ञानके विषय कैसे हो सकते हैं? अर्थात् नहीं हो सकते हैं। इससे सिद्ध होता है कि सर्वज्ञके दर्शन व ज्ञानमें द्व्यणुकमें विद्यमान दोनों परमाणु एक-दूसरेके निमित्तसे होनेवाले अपने-अपने परिणमनके साथ तादात्म्यको प्राप्त होते हुए पृथक्-पृथक् ही प्रति-बिम्बित और प्रतिभासित होते हैं। यही बात द्व्यणुकसे ऊपर छोटे-बड़े सभी स्कन्धोंके विषयमें जान लेना चाहिए।

एक प्रश्न

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि जब चन्द्रमाकी रचना और उसकी भूमितलसे दूरी आदिका तथ्या-त्मक (जैसा है वैसा) ज्ञान अल्पज्ञ आप्तोंको नहीं था तो फिर उन्होंने उनका अतथ्यात्मक (जैसा नहीं है वैसा) प्रतिपादन क्यों किया है?

समाधान

उक्त प्रश्नका समाधान यह है कि अल्पज्ञ आप्तोंने चन्द्रमाकी रचना और उसकी भूमितलसे दूरी आदि का अतथ्यात्मक प्रतिपादन किसी कषायवश नहीं किया है, केवल तथ्यात्मक (जैसा है वैसा) प्रतिपादनके लिए साधनोंकी कमी होनेके कारण ही वह अतथ्यात्मक (जैसा नहीं है वैसा) प्रतिपादन जैसा समझमें आया वैसा प्रयोजनभूत समझकर किया है। इसलिये इन्हें मिथ्यादृष्टि या मिथ्याज्ञानी नहीं समझना चाहिए, क्योंकि गोम्मटसार जीवकाण्डमें यह स्पष्ट लिखा है कि सम्यग्दृष्टि जीव तथ्यात्मक वस्तुका श्रद्धान तो करता ही है लेकिन साधनोंके अभावमें वह अतथ्यात्मक वस्तुको भी तथ्यात्मक समझकर उसका भी श्रद्धान करता है और ऐसा श्रद्धान करते हुए भी वह मिथ्यादृष्टि न होकर सम्यग्दृष्टि ही बना रहता है। इतना अवश्य है कि यदि उसे कालान्तरमें अपनी भूल किसी प्रकार समझमें आ जावे, फिर भी वह उस अतथ्यात्मक प्रतिपादनको तथ्यात्मक माननेका ही आग्रह करता है तो तब वह सम्यग्दृष्टि न रहकर मिथ्यादृष्टि ही हो जाता है।[1] इस तरह आज भौतिक विज्ञान द्वारा किया गया चन्द्रमाकी रचना व उसकी भूमितलसे दूरी आदिका निर्णय अल्पज्ञ आप्तों द्वारा प्रतिपादित आगमसे विपरीत होते हुए भी यदि तथ्यात्मक हो तो उसे स्वीकार करनेमें हमें संकोच नहीं होना चाहिए; क्योंकि इससे हमारे आध्यात्मिक तत्त्वज्ञानको कोई ठेस पहुँचनेकी सम्भावना नहीं है।

एक बात और है कि अल्पज्ञ आप्तों द्वारा लोक-कल्याण भावनासे जान-बूझकर भी अतथ्यात्मक विवेचन कर दिया जाता है। जैसे भोले बच्चेकी माँ बच्चेकी सुरक्षाकी दृष्टिसे कह दिया करती है कि "बेटा!

१. सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥ २७ ॥
सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि।
सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदि ॥ २८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सड़क पर नहीं जाना, क्योंकि वहाँ हौवा बैठा हुआ है" तो यह कथन यद्यपि अतथ्यात्मक है, परन्तु बच्चेके प्रति कल्याण-भावनाकी दृष्टिसे कहा जानेके कारण लोकमें सत्य मान लिया जाता है। इसी तरह गायकी सुरक्षा-की दृष्टिसे अल्पज्ञ आप्तों द्वारा कसाईको गायके जानेका सही मार्ग न बतलाया जाकर जो गलत मार्ग भी बतला दिया जाता है, उसे भी सत्यात्मक लोकमें मान लिया जाता है। यही कारण है कि स्वामी समन्तभद्र-ने रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें किसी प्राणीके लिए विपत्तिकारक सत्य-वचनको भी असत्य और हितकारक असत्य-वचनको भी सत्य-वचन कहा है।[1] तथा संकल्पी हिंसाके समान पाप होते हुए भी स्वपर-कल्याण-भावनाके आधारपर की गई आरम्भी हिंसाको यथास्थान उचित बतलाया गया है।[2]

आगमके भेद और उनके लक्षण

वर्तमानमें जितना भी आगम है, उसे चार भागोंमें विभक्त किया गया है—१. द्रव्यानुयोग, २. करणा-नुयोग, ३. चरणानुयोग और ४. प्रथमानुयोग।[3]

१. द्रव्यानुयोग वह है, जिसमें अध्यात्म (आत्महित) को लक्ष्यमें रखकर विश्वकी समस्त वस्तुओंकी स्वतन्त्र सत्ता, उपयोगिता और उनकी स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्ययपर्यायोंका निर्धारण किया गया हो। इस अनुयोगसे संसारी प्राणियोंके लिए अपना लक्ष्य निर्धारित करनेमें सहायता मिलती है।

२. करणानुयोग वह है, जिसमें अध्यात्म (आत्महित) को लक्ष्यमें रखकर संसारी प्राणियोंकी पाप, पुण्य और धर्ममय पर्यायों और उनके कारणोंका विश्लेषण किया गया है। इस अनुयोगसे संसारी प्राणियोंको अपनी पाप, पुण्य और धर्ममय पर्यायों व उनके कारणोंका परिज्ञान होता है।

३. चरणानुयोग वह है जिसमें अध्यात्म (आत्महित) को लक्ष्यमें रखकर संसारी प्राणियोंको पाप, पुण्य और धर्मके मार्गोंका परिज्ञान कराया गया हो। इस अनुयोगसे संसारी प्राणियोंमें अपने लक्ष्यकी पूर्तिके लिए पुरुषार्थ जाग्रत होता है।

४. प्रथमानुयोग वह है, जिसमें अध्यात्म (आत्महित) को लक्ष्यमें रखकर तथ्यात्मक (जैसे हों वैसे) और आपेक्षिक सत्यताको प्राप्त प्रयोजनभूत कथानकोंके आधारपर संसारी प्राणियोंको पाप, पुण्य और धर्मके फलोंका दिग्दर्शन कराया गया हो। इस अनुयोगसे प्राणियोंमें अपने लक्ष्यकी पूर्तिके मार्गमें श्रद्धा (रुचि) जागृत होती है।

अध्यात्म (आत्महित) और उसकी प्राप्तिका उपाय क्या है?

श्रद्धेय पं० दौलतरामजीने छहढालाके प्रथम पद्यमें अध्यात्म (आत्महित) का अर्थ सुख बतलाया है[4] और प्रथम ढालके प्रथम पद्यमें यह बतलाया है कि संसारके सभी अनन्तानन्त जीव सुख चाहते हैं और दुःखसे डरते हैं।[5] सुखप्राप्तिका साधन (मार्ग) स्वामी समन्तभद्रकृत रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें धर्मको बतलाया है[6]

---

१. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ५५।

२. वही, श्लोक ५३।

३. प्रथमं चरणं करणं द्रव्यं नमः (शान्तिपाठ) व रत्नकरण्डकश्रावकाचारके पद्य ४३, ४४, ४५, व ४६।

४. आतमकौ हित है सुख इत्यादि।

५. जे त्रिभुवनमें जीव अनन्त, सुख चाहें दुःखतें भयवन्त।

६. देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिर्वहणम्। संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे॥ २॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसलिए कहना चाहिए कि तीर्थकर महावीरकी देशनाका मुख्य उद्देश्य भी संसारी प्राणियोंको दुःखके जनक अधर्मसे हटाकर सुखके जनक धर्मकी ओर मोड़ना ही था, जिसका प्रतिपादन चरणानुयोगमें किया गया है।

धर्म और अधर्मका स्वरूप

धर्म और अधर्मका स्वरूप बतलानेके पूर्व इस सम्बन्धमें लोककी दृष्टिको भी समझ लेना आवश्यक है, जो निम्न प्रकार है :—

१. प्रायः प्रत्येक मनुष्यकी दृष्टिमें वही सम्प्रदाय श्रेष्ठ है, जिसमें वह पैदा हुआ है, वही दर्शन सत्य है जिसे वह मानता है और उसी क्रियाकाण्डसे स्वर्ग या मोक्ष प्राप्त हो सकता है, जो उसे कुल-परम्परासे प्राप्त है। इसके अतिरिक्त शेष सभी सम्प्रदाय निम्न कोटिके, सभी दर्शन असत्य और सभी क्रियाकाण्ड आडम्बर मात्र हैं। इस तरह लोकका प्रायः प्रत्येक मनुष्य इसी आधारपर अपनेको धर्मात्मा और दूसरोंको अधर्मात्मा मान रहा है।

२. लोकमें धर्मात्मा व्यक्तिके लिए आस्तिक और अधर्मात्मा व्यक्तिके लिए नास्तिक शब्दोंका प्रयोग किया जाता है और इन दोनों शब्दोंकी व्युत्पत्ति व्याकरणमें निम्न प्रकारकी गई है—

अस्ति परलोके मतिर्यस्य स आस्तिकः, नास्ति परलोके मतिर्यस्य स नास्तिकः।

अर्थात् जो परलोकको मानता है, वह धर्मात्मा है और जो परलोकको नहीं मानता है वह अधर्मात्मा है।

वास्तवमें देखा जाय तो धर्म और अधर्मकी ये व्याख्याएँ पूर्णतः सही न होकर ये व्याख्याएँ ही पूर्णतः सही हैं कि लोकमें जिस मार्गपर चलनेसे अभ्युदय (शान्ति) और अन्तमें निःश्रेयस (मुक्ति अर्थात् आत्म-स्वातन्त्र्य) प्राप्त हो सकता है, वह तो धर्म है और जो लोक तथा परलोक सर्वत्र दुःखका कारण हो वह अधर्म है। तीर्थंकर महावीरकी देशनामें इस बातको लक्ष्यमें रखकर ही चरणानुयोगमें प्रतिपादित धर्मके दश भेद स्वीकार किए गए हैं।

धर्मके दश भेद और उनका स्वरूप

क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये धर्मके दश भेद हैं।[1] जीवनमें क्रमिक-विकासके आधारपर ही तीर्थंकर महावीरकी देशनामें धर्मकी यह दश संख्या निश्चित की गयी है। आगे इनका पृथक्-पृथक् विकास-क्रमके आधारपर स्वरूप-विवेचन किया जा रहा है।

१ क्षमा—कभी क्रोधावेशमें नहीं आना, कभी किसीको कष्ट नहीं पहुँचाना, कभी किसीके साथ गाली-गलौज या मार-पीट नहीं करना तथा सबके साथ सदा सहिष्णुताका बर्ताव करना।

२. मार्दव—कभी अहंकार नहीं करना, कभी किसीको अपमानित नहीं करना, सबके साथ सदा समानताका व्यवहार करना और मनमें कभी प्रतिष्ठाकी चाह नहीं करना।

३. आर्जव—कभी किसीके साथ छल-कपट नहीं करना, कम देकर अधिक लेने और असली वस्तुमें नकली वस्तु देनेका कभी प्रयत्न नहीं करना—इस तरह अपने जीवनको लोकका विश्वासपात्र बना लेना।

४. सत्य—सबके साथ सदा सहानुभूति और सहृदयताका व्यवहार करना, हित, मित और प्रिय

१. तत्त्वार्थसूत्र ९।६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वचन बोलना, आवश्यकतानुसार दूसरोंकी यथाशक्ति तन, मन और धनसे सहायता करना तथा जीवनके लिए उपयोगी कौटुम्बिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, मानवोचित और सांस्कृतिक-संरक्षणका पूरा-पूरा प्रयत्न करना ।

५. शौच—अपने जीवनकी सुरक्षा और शान्तिके लिए कुटुम्ब, समाज, नगर, राष्ट्र, विश्व और संस्कृतिके संरक्षणका पूरा-पूरा प्रयत्न करते हुए जीवन-रक्षामें उपयोगी साधनोंके संग्रह और उपयोगका यथोचित ध्यान रखना अर्थात् न तो जीवन-रक्षाके लिए पराश्रित-वृत्ति अपनाना और न उपयोगमें कंजूसी करना ।

६. संयम—अपने जीवनकी सुरक्षामें साधन-भूत सामग्रीके संग्रह और उपयोगमें कुटुम्ब, समाज, नगर, राष्ट्र, विश्व और संस्कृतिके संरक्षणका पूरा-पूरा ध्यान रखते हुए अपनी आवश्यकताओं और अपने अधिकारोंकी सीमा निर्धारित करना और अनावश्यक, प्रकृति-विरुद्ध, संस्कृति-विरुद्ध और लोक-विरुद्ध एवं अधिकारके बाहर उपयोग नहीं करना—इस प्रकार जीवनमें सादगी बना लेना ।

७. तप—बाह्य[1] प्रयत्नों द्वारा शरीरको आत्मनिर्भर बनानेका प्रयत्न करना तथा अन्तरंग[2] प्रयत्नों द्वारा आत्माकी स्वालवम्बन शक्तिको जागृत करना—इस प्रकार जीवनकी वर्तमान आवश्यकताओंको कम करना ।

८. त्याग—बाह्य-प्रयत्नों द्वारा उत्तरोत्तर वृद्धिगत शरीरकी आत्मनिर्भरता और अन्तरंग-प्रयत्नों द्वारा उत्तरोत्तर वृद्धिगत आत्माकी स्वावलम्बनशक्तिके अनुरूप भोगसामग्रीके संग्रह और उपभोगमें धीरे-धीरे यथायोग्य क्रमसे कमी करते जाना अर्थात् जीवनरक्षाकी साधनभूत उपयोग-सामग्रीका धीरे-धीरे यथाक्रमसे यथाशक्ति त्याग करना ।

९. आकिंचन्य—उपर्युक्त दोनों प्रकारके प्रयत्नों द्वारा ही उत्तरोत्तर वृद्धिगत शरीरकी आत्मनिर्भरता व आत्माकी स्वावलम्बन-शक्तिके अनुरूप जीवन-रक्षाकी साधनभूत उपभोग-सामग्रीके अवलम्बनको यथोक्त क्रम से कम करते-करते अन्तमें अकिंचन (नग्न, दिगम्बर-मुद्राधारी बनकर मोक्ष (आत्मस्वातन्त्र्य) की पूर्णता प्राप्त करनेके लिए गृहवासको छोड़कर बनवासी हो जाना ।

१०. ब्रह्मचर्य—उपर्युक्त दोनों प्रकारके प्रयत्नों द्वारा उत्तरोत्तर वृद्धिगत शरीरकी आत्म-निर्भरता और आत्माकी स्वालम्बन-शक्तिके आधारपर ही भूख, प्यास, रोग आदि शारीरिक बाधाओंके पूर्णतः नष्ट हो जाने (शरीरके पूर्णरूपसे आत्मनिर्भर हो जाने), तथा आत्माकी स्वालम्बन, शक्तिका चरम-विकास हो जानेपर आत्माके स्वभावभूत अनन्त-चतुष्टय (असीमित-दर्शन, असीमित-ज्ञान असीमित-वीर्य और असीमित-सुख) का उद्भव हो जानेके पश्चात् यथासमय आयुकी समाप्ति हो जानेपर संसार (शरीरके साथ आत्माके विद्यमान सम्बन्ध) का सर्वथा विच्छेद हो जाना और तब आगे अनन्तकालतक आत्माका अपने स्वतन्त्र-स्वरूपमें ही रमण करते रहना ।

इस प्रकार दश धर्मोंके स्वरूपका आगमके आधारपर जो यह दिग्दर्शन कराया गया है, वह मानव-जीवनमें धर्मके क्रमिक-विकासको बतलाता है तथा इससे तीर्थंकर महावीरकी देशनामें प्रतिपादित धर्मका स्वरूप और उसका प्रारम्भिक व सर्वोत्कृष्ट रूप सरलतासे समझमें आ जाता है ।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र ९।१९ ।
२. तत्त्वार्थसूत्र ९।२० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उक्त दश-धर्मोंका वर्गीकरण

पूर्वमें स्वामी समन्तभद्रकृत रत्नकरण्डकश्रावकाचारके अनुसार धर्मको सुखका कारण बतलाया गया है। धर्म और सुखका यह कार्य-कारणभाव दीपक और प्रकाशकी तरह सहभावी है। अर्थात् जिस प्रकार जहाँ दीपक है वहाँ प्रकाश अवश्य रहता है और जहाँ दीपक नहीं है वहाँ प्रकाश भी नहीं रहता है। इसी प्रकार जहाँ धर्म होगा वहाँ सुख अवश्य होगा और जहाँ धर्म नहीं होगा वहाँ सुख भी नहीं होगा। पूर्वमें धर्मका जो यह स्वरूप निर्धारित किया गया है कि लोकमें जिस मार्गपर चलनेसे अभ्युदय (जीवनमें सुख शान्ति) और अन्तमें निःश्रेयस (मुक्ति अर्थात् आत्मस्वातन्त्र्य) प्राप्त हो सकता है, वह धर्म है। इससे स्पष्ट होता है कि सुख दो प्रकारका होता है—एक तो अभ्युदय अर्थात् लौकिक-जीवनमें शान्तिरूप सुख और दूसरा निःश्रेयस अर्थात् मुक्ति या आत्म-स्वातन्त्र्यरूप पारमार्थिक-सुख। इसके आधारपर धर्म भी मूलतः दो भेदोंमें विभक्त हो जाता है—एक तो अभ्युदय अर्थात् लौकिक-जीवनमें शान्तिरूप सुखका कारणभूत लौकिक-धर्म और दूसरा निःश्रेयस अर्थात् मुक्ति या आत्म-स्वातन्त्र्यरूप पारमार्थिक-सुखका कारणभूत पारमार्थिक-धर्म। जो मनुष्य उक्त पारमार्थिक-सुखको प्राप्त करना चाहता है, उसे तो पारमार्थिक-धर्मकी शरणमें ही जाना होगा, लेकिन जो मनुष्य पारमार्थिक-धर्मकी शरणमें अपनी अशक्तिवश नहीं जा सकता है, उसे कम-से-कम अपने लौकिक-जीवनमें शान्तिरूप सुखकी प्राप्तिके लिए लौकिक-धर्मकी शरणमें जाना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य-का मुख्य कर्तव्य तो पारमार्थिक सुखकी प्राप्तिके लिए पारमार्थिक-धर्मपर चलना ही है, लेकिन जो मनुष्य पारमार्थिक-धर्मपर चलनेमें असमर्थ है, उसे कम-से-कम लौकिक-जीवनमें सुख-शान्तिके उद्देश्यसे लौकिक-धर्म-पर अवश्य ही चलना चाहिए। तीर्थंकर महावीरकी देशनामें जो धर्मके उपर्युक्त दश भेद बतलाए गए हैं, वे इसी आशयसे बतलाए गए हैं। इसलिए उन दश धर्मोंके दो वर्ग निश्चित हो जाते हैं—एक तो लौकिक-धर्मोंका वर्ग और दूसरा पारमार्थिक-धर्मोंका वर्ग। क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच और संयम ये छह धर्म तो लौकिक-धर्म कहलाने योग्य हैं और तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये चार धर्म पारमार्थिक-धर्म कहलाने योग्य हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि पारमार्थिक-सुखकी प्राप्तिके लिए जिस प्रकार तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य रूप पारमार्थिक-धर्मोंका मानव-जीवनमें महत्व है, उसी प्रकार लौकिक-जीवनमें सुख शान्ति प्राप्त करनेके लिए क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच एवं संयम रूप लौकिक-धर्मोंका भी मानव-जीवन में महत्व है। यही कारण है कि धर्मके उल्लिखित दोनों वर्गोंको मानवकी बहत्तर कलाओंमेंसे प्रधान कलाके रूपमें स्वीकार किया गया है।[1] धर्मोंके क्रमिक-विकासकी दृष्टिसे एक बात यह भी स्पष्ट होती है कि मानव-जीवनमें जब तक उक्त लौकिक धर्मोंका समावेश नहीं होता, तब तक उसमें उक्त पारमार्थिक-धर्मोंका विकास होना असम्भव ही है।

मानव जीवनमें लौकिक-धर्मोंके महत्त्वका कारण

मानव जीवनमें लौकिक-धर्मोंके महत्त्वका उपर्युक्त एक कारण तो यही है कि जब तक मानव-जीवनमें लौकिक धर्मोंका समावेश नहीं होगा, तब तक उसमें पारमार्थिक धर्मोंका विकास होना असम्भव है, लेकिन सामान्यरूपसे मानव-जीवनमें लौकिक-धर्मोंका महत्त्व इसलिए है कि तीर्थंकरकी देशनाके अनुसार प्रत्येक सप्राण शरीरमें उस शरीरसे अतिरिक्त जीवका अस्तित्व है। इतना ही नहीं, वह जीव शरीरके साथ इतना घुला-मिला है कि शरीरके अस्तित्वके साथ ही उसका अस्तित्व उसे समझमें आता है, उसके बिना नहीं। जीवके भीतर जो ज्ञान करनेकी शक्ति है वह भी शरीरकी अंगभूत इन्द्रियोंके सहयोगके बिना पंगु बनी रहती

१. कला बहत्तर पुरुषकी तामें दो सरदार। एक जीवकी जीविका द्वितीय जीव उद्धार॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है और यह भी बात है कि जीव शरीरके इतना अधीन हो रहा है कि उसके जीवनकी स्थिरता शरीरकी स्वास्थ्यमय स्थिरतापर अवलम्बित है। जीवकी शरीरावलम्बनताका यह भी एक विचित्र किन्तु तथ्यपूर्ण अनुभव है कि यदि शरीरमें शिथिलता आदि विकार पैदा हो जाते हैं, तो जीवको क्लेश होता है और जब उन विकारोंके नाशके अनुकूल साधनोंका सहयोग उसे प्राप्त हो जाता है, तो उन विकारोंका नाश हो जानेपर जीवको सुखानुभव होने लगता है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि वे साधन अपना प्रभाव शरीरपर ही डालते हैं, परन्तु शरीरकी अधीनताके कारण सुखानुभोक्ता जीव होता है।

अब यदि यह कथन मनुष्यके ऊपर लागू किया जाय तो समझमें आ जायगा कि मानव-प्राणी भी शरीरके अधीन है और उसका वह शरीर भी भोजनादिकके अधीन है। इसीलिए प्रत्येक मनुष्य भोजनादिक के उपभोगमें प्रवृत्त होता है। प्रत्येक मनुष्यको भोजनादिककी प्राप्ति अन्य मनुष्योंके सहयोगसे ही होती है। यही कारण है कि तीर्थंकर महावीरने "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" (त० सू० ५।२१) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। वैसे तो यह सिद्धान्त सम्पूर्ण संसारी जीवोंपर लागू होता है, परन्तु मानव-जीवनमें तो इसकी वास्तविकता स्पष्ट परिलक्षित होती है और इसीलिए मनुष्यको सामाजिक प्राणी स्वीकार किया गया है जिसका अर्थ यह है, कि प्रत्येक मनुष्यको अपने जीवनमें सुख प्राप्त करनेके लिए कुटुम्ब, नगर, राष्ट्र और यहाँ तक कि विश्वके सहयोगकी आवश्यकता है। इसका निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक मनुष्यको अपने जीवनमें सुख प्राप्त करनेके लिए कुटुम्ब, नगर, राष्ट्र और विश्वके रूपमें मानव-संगठनके छोटे-बड़े जितने रूप हो सकते हैं, उन सबको ठोस रूप देनेका सतत् प्रयत्न करते रहना चाहिए। इसलिए तीर्थंकर महावीरकी देशना में प्रत्येक मनुष्यको सर्वप्रथम उपदेश दिया गया है कि "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" अर्थात् दूसरोंका जो आचरण उसको अपने प्रतिकूल जान पड़ता है वैसा आचरण उसको दूसरोंके साथ नहीं करना चाहिए, इतना ही नहीं, दूसरोंसे अपने प्रति वह जैसा आचरण चाहता है, वैसा ही आचरण उसे दूसरोंके साथ भी करना चाहिए।

वास्तवमें देखा जाय तो वर्तमानमें प्रत्येक मनुष्यकी यह दशा है कि वह दूसरोंको निरपेक्ष भावसे सहयोग देनेके लिए तो तैयार ही नहीं होता है, परन्तु अपनी प्रयोजन-सिद्धिके लिए वह न केवल दूसरोंसे निरपेक्ष-सहयोग प्राप्त करनेका सतत् प्रयत्न करता रहता है, प्रत्युत दूसरोंके साथ संघर्ष करने, उन्हें तिरस्कृत करने और उन्हें धोखेमें डालनेसे भी नहीं चूकता है। इतना ही नहीं, प्रत्येक मनुष्यका यह स्वभाव बना हुआ है कि वह अपना प्रयोजन रहते अथवा न रहते भी दूसरोंके साथ हमेशा अनुचित आचरण करनेमें आनन्दित होता है।

तीर्थंकर महावीरके समयमें भी मानव-समाजकी यही दशा थी और उन्होंने जाना था कि यह दशा मानव-समाजको विघटित करके प्रत्येक मनुष्यके जीवनको त्रस्त करनेवाली है, अतः उन्होंने अपनी देशनामें यह सिद्धान्त प्रस्थापित किया था कि मानव-जीवनमें शान्ति-स्थापनाकी रीढ़ सामाजिक संगठनको सुदृढ़ करनेके लिए प्रत्येक मनुष्यको दूसरे मनुष्योंके साथ, प्रत्येक कुटुम्बको दूसरे कुटुम्बोंके साथ, प्रत्येक नगरको अन्य नगरोंके साथ और प्रत्येक राष्ट्रको अन्य सभी राष्ट्रोंके साथ अपना प्रयोजन रहते न रहते कभी भी अनुचित आचरण नहीं करना चाहिए। इतना ही नहीं, आवश्यकता पड़नेपर सभीको सभीके साथ निरपेक्ष-भावसे सतत् सहायकपनेका आचरण करते रहना चाहिए।

तीर्थंकर महावीरकी देशनामें तो यज्ञोंमें धर्मके नामपर होनेवाले पशुओंकी रक्षाके अनुकूल जनमत जागृत करनेके लिये यहाँ तक कहा गया था कि जब प्राणीमात्र एक-दूसरे प्राणीका उपकारक है तो प्रत्येक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्यको सतत् "सत्वेषु मैत्रीं"[1] वाला पाठ याद रखना चाहिए और दूसरोंके साथ पूर्वोक्त स्वरूपवाले क्षमा, मार्दव, आर्जव तथा सत्य धर्मोंके रूपमें ही अपना पवित्र आचरण बना लेना चाहिए। इस तरह प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक कुटुम्ब, प्रत्येक नगर और प्रत्येक राष्ट्र अर्थात् विश्वका मानवमात्र जब तीर्थंकर महावीर द्वारा उपदिष्ट पूर्वोक्त स्वरूपवाले क्षमा, मार्दव, आर्जव और सत्य धर्ममय अपना जीवन बना ले तभी वह अपनेको मानव या सभ्य कहलानेका अधिकारी हो सकता है तथा विश्वमें सच्ची अहिंसाका प्रसार भी इसी आधारपर हो सकता है और मानव-जीवनमें इसी आधारपर सुख-शान्तिकी लहर दौड़ सकती है।

ऊपर मनुष्यके सामाजिक-जीवनकी झाँकी बतलायी गयी है। इसके अतिरिक्त मनुष्यको जीवनमें सुखी बननेके लिए अपने व्यक्तिगत जीवनको भी धर्ममय बनाना होगा। अर्थात् लोकमें बहुतसे मनुष्य ऐसे देखनेमें आते हैं कि वे लोभके वशीभूत होकर सम्पत्तिके संग्रहमें जितना आनन्द लेते हैं, उतना आनन्द वे उसके उपभोगमें नहीं लेते, यहाँ तक कि वे अपने शरीरकी आवश्यकताओंकी पूर्तिमें भी बड़ी कंजूसीके साथ काम लेते हैं। इसी तरह लोकमें बहुतसे मनुष्य ऐसे देखनेमें आते हैं कि वे लोलुपतावश पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंका आवश्यकतासे अधिक उपभोग करते हुए भी कभी तृप्त नहीं होते।

बात तो वास्तवमें यह है कि भोजनादि पदार्थ मनुष्यकी मनसन्तुष्टिके लिए बिलकुल उपयोगी नहीं है, केवल शरीरके लिए ही वे उपयोगी सिद्ध होते हैं, फिर भी मनुष्य अपने मनके वशीभूत होकर ऐसा भोजन करनेसे नहीं चूकता, जो उसकी शारीरिक प्रकृतिके बिलकुल प्रतिकूल पड़ता है। इसी प्रकार वस्त्र या अन्य सभी उपयोगमें आनेवाली वस्तुओंके विषयमें प्रायः प्रत्येक मनुष्य जितनी मानसिक अनुकूलताकी बात सोचता है, उतनी शारीरिक अनुकूलताकी बात वह कभी नहीं सोचता है। ऐसा करनेसे मनुष्यके जीवनका ह्रास तो होता ही है, परन्तु साथ ही उसके इस आचरणका मानव-समाजके ऊपर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इसलिए तीर्थंकर महावीरके उपदेशमें यह बात बतलायी गयी है कि भोजन आदि बाह्य-सामग्री जीवनके लिए बड़ी उपयोगी है। अतः मनुष्यको उसका जीवनमें उपयोग तो करना चाहिए, लेकिन उसका दुरुपयोग न हो—इस बातका भी उसे पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए। इस तरह प्रत्येक मनुष्यको उपर्युक्त क्षमा, मार्दव, आर्जव और सत्य धर्मोंके साथ ही संग्रहवृत्तिको समाप्त करनेवाले शौच-धर्म तथा विलासपूर्ण-वृत्तिको समाप्त करनेवाले संयम-धर्मका अवलम्बन अपने जीवनमें अवश्य लेना चाहिए।

वास्तवमें विचार किया जाय तो लोक-शान्ति और जीवन-शान्तिके लिए क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच और संयम ये छह धर्म हैं। इसलिए जबतक मानव-समाज इनके महत्त्वको न समझकर इनकी उपेक्षा करता रहेगा, तबतक उसके जीवनमें कुटुम्बमें, नगरमें, राष्ट्रमें और विश्वमें कभी भी शान्ति स्थापित नहीं हो सकती, और न कोई भी मनुष्य पारमार्थिक सुखके कारणभूत पारमार्थिक धर्मकी ओर ही वास्तविक रूपमें अग्रसर हो सकता है।

पारमार्थिक धर्मोंकी मोक्ष-कारणता

ऊपर बतलाया गया है कि पारमार्थिक धर्म निःश्रेयस अर्थात् मुक्ति या आत्मस्वातन्त्र्यरूप पारमार्थिक सुखके कारण हैं और यह भी बतलाया गया है कि मानव-जीवनमें जबतक उपर्युक्त लौकिक-धर्मोंका समावेश नहीं होगा, तबतक उसमें उक्त पारमार्थिक धर्मोंका विकास होना सम्भव नहीं है। अर्थात् उपर्युक्त प्रकार

---

१. सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव ॥—सामायिक पाठ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लौकिक धर्मोंपर चलनेवाला मानव जब शारीरिक और ऐहिक दृष्टिसे सुखी हो जाता है, तभी वह यह सोचनेके लिए सक्षम होता है कि मेरा जीवन शरीरके अधीन है और शरीरकी स्थिरताके लिए मुझे भोजन, वस्त्र, आवास और इनकी पूर्तिके लिए कुटुम्ब, नगर, राष्ट्र तथा विश्व तकका सहारा लेना पड़ता है। इस तरह मैं मानव-संगठनके विशाल-जालमें फँसा हुआ हूँ। ऐसी स्थितिमें वह अपना भावी कर्त्तव्यका मार्ग इस प्रकार निश्चित करता है कि जिससे वह शरीर-बन्धनसे छुटकारा पा सके। उसके उस कर्त्तव्य-मार्गको तीर्थंकर महावीरकी देशनामें इस प्रकार बतलाया गया है कि सर्व प्रथम उसे अनशन आदि पूर्वोक्त बाह्य-प्रयत्नों (तपों) द्वारा शरीरमें आत्म-निर्भरता लानेका व प्रायश्चित आदि पूर्वोक्त अन्तरंग प्रयत्नों (तपों) द्वारा आत्मामें स्वावलम्बनता लानेका पुरुषार्थ करना चाहिए तथा इन बहिरंग और अन्तरंग प्रयत्नोंके आधारपर ही जैसी-जैसी शरीरकी आत्मनिर्भरता और आत्माकी स्वावलम्बनता बढ़ती जाए, उसके आधारपर उसे बाह्य-पदार्थोंके अवलम्बनको छोड़ने रूप त्याग धर्म (अणुव्रत आदि श्रावक धर्म) और इसके भी आगे आकिंचन्य धर्म (महाव्रत आदि मुनि-धर्म)को अंगीकार कर लेना चाहिए। इस तरहका पुरुषार्थ उसे तबतक करते रहना चाहिए, जबतक कि उसका शरीर पूर्ण आत्मनिर्भर न हो जावे और आत्मा पूर्ण स्वावलम्बी न बन जावे। शरीरके पूर्ण आत्मनिर्भर हो जाने और आत्माके पूर्ण स्वावलम्बी बन जानेपर वह सर्व प्रथम जीवन्मुक्त परमात्मा बनता है और अन्तमें वह शरीरसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर लेनेपर ब्रह्मचर्यका धारक (आत्मलीन परमात्मा) बन जाता है अर्थात् निःश्रेयस (मुक्ति या आत्मस्वातन्त्र्य) को प्राप्तकर पारमार्थिक सुखका भोक्ता परमात्मा बन जाता है और वह सर्वदा अजर व अमर बना रहता है।

तीर्थंकर महावीरकी देशनामें उपदिष्ट धर्मतत्त्वका यह विवेचन आगमके एक भेद चरणानुयोगके आधार पर किया गया है, क्योंकि तीर्थंकर महावीरके धर्मतत्त्वको समझनेके लिए हमें चरणानुयोग ही एक सहारा है। चरणानुयोगमें धर्मतत्त्वको समझनेके लिए यद्यपि और भी कई प्रकार बतलाए गए हैं, परन्तु वे सब प्रकार भी धर्मतत्त्वको उपर्युक्त रूपमें ही प्रदर्शित करते हैं। यथा—

१. मिथ्यादर्शन (सुखकी अभिलाषासे दुःखके कारणोंमें रुचि रखना), मिथ्याज्ञान (दुःखके कारणोंको सुखके कारण समझना) और मिथ्याचारित्र (सुखकी प्राप्तिके लिए दुःखजनक प्रवृत्ति करना) यह सब अधर्म हैं तथा इनके ठीक विपरीत अर्थात् सम्यग्दर्शन (सुखकी अभिलाषासे सुखके कारणोंमें ही रुचि रखना), सम्यग्ज्ञान (सुखके कारणोंको ही सुखके कारण समझना) और सम्यक्चारित्र (सुख-प्राप्तिके लिए सुखके ही कारणोंमें प्रवृत्त होना) यह सब धर्म है।[१]

२. हिंसा करना, झूठ बोलना, चोरी करना, भोगविलासमे जीवन बिताना और धनादिकके संग्रहको ही जीवनका लक्ष्य बना लेना—यह सब अधर्म है तथा इस प्रकारकी प्रवृत्तियोंको जीवनसे निकाल देना—यह सब धर्म है।[२]

३. धार्मिक प्रवृत्ति (धर्मपुरुषार्थ), आर्थिक प्रवृत्ति (अर्थपुरुषार्थ) और भोगमें प्रवृत्ति (कामपुरुषार्थ) इनका जीवनमें समन्वय नहीं करना अधर्म है तथा इनका जीवनमें समन्वय करते हुए अन्तमें केवल धर्मपुरुषार्थपर आरूढ़ हो जाना अर्थात् मोक्षपुरुषार्थमय जीवनको बना लेना धर्म है।

पहले प्रकारमें जो सम्यग्दर्शनादिकको धर्म कहा गया है, उनमेंसे सम्यग्दर्शनका अन्तर्भाव तो क्षमा,

१. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ३।

२. हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।—तत्त्वार्थसूत्र ७।१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मार्दव, सत्य, शौच और संयम धर्मोंमें हो जाता है, क्योंकि कोई भी मनुष्य जबतक अपने जीवनमें इन छह धर्मोंको स्थान नहीं देगा तब तक सम्यग्दृष्टि त्रिकालमें नहीं हो सकता है। इसका भी कारण यह है कि सम्यग्दृष्टिकी वृत्ति और प्रवृत्ति कभी अन्याय, अत्याचार आदि उच्छृंखलताओंको लिए हुए नहीं हो सकती है और यदि इस तरहकी वृत्ति और प्रवृत्ति किसीकी होती है तो वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है। इसी प्रकार सम्यक्चारित्रका अन्तर्भाव तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य धर्मोंमें हो जाता है। जैसा कि इन धर्मोंके पूर्वमें किए गए स्वरूप-विवेचनसे स्पष्ट हो जाता है। सम्यग्ज्ञानके सम्बन्धमें यदि विचार किया जाए तो कहा जा सकता है कि ज्ञान अपने आपमें न तो धर्म है और न अधर्म है, इसलिए जब तक उसका सम्बन्ध मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्रसे रहता है तब तक तो उसका अन्तर्भाव अधर्ममें होता और जब उसका सम्बन्ध सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रसे हो जाता है तब उसका अन्तर्भाव धर्ममें हो जाता है।

दूसरे प्रकारमें जो अहिंसादिकको धर्म कहा गया है उनका समावेश क्षमा आदि धर्मोंमें निम्न प्रकार होता है।

अहिंसा और अचौर्य ये दोनों निवृत्तिपरक धर्म हैं क्योंकि हिंसासे निवृत्ति अहिंसा, और चोरीसे निवृत्ति अचौर्य कहलाता है। दूसरोंके लिए अप्रिय वचन बोलना अथवा बध, बन्धन, ताड़न, छेदन, भेदन आदि क्रियाओं द्वारा कष्ट पहुँचाना हिंसा है, अतः इन सबसे निवृत्ति स्वरूप अहिंसाका समावेश क्षमाधर्ममें होता है। इसी प्रकार दूसरोंकी वस्तुओंको उनकी आज्ञाके बिना अपनी बना लेना चोरी है। यह चोरी अपने आपमें अधर्म न होकर दूसरोंको कष्ट पहुँचाने रूप हिंसाका कारण होनेसे ही अधर्म है अतः कारणमें कार्यका उपचार होनेसे चोरी भी एक तरहसे हिंसाका ही रूप सिद्ध होती है, इसलिए चोरीसे निवृत्तिरूप अचौर्यधर्मका समावेश भी क्षमाधर्ममें हो जाता है। तथा यदि और बारीकीसे अहिंसा व अचौर्यका विश्लेषण किया जाय तो अहिंसाका समावेश क्षमाके साथ-साथ मार्दवधर्ममें होता है, कारण कि अप्रिय वचन बोलनेका अर्थ दूसरोंका तिरस्कार करना ही तो है अतः दूसरोंका तिरस्कार नहीं करने रूप अहिंसाका समावेश मार्दवधर्ममें भी हो जाता है। इसी तरह अचौर्य धर्मका समावेश आर्जव धर्ममें करना उचित है कारण कि छल-कपट करना चोरीका ही रूपान्तर है।

सत्य धर्म प्रवृत्तिपरक धर्म है। लोकमें दूसरोंको कष्ट नहीं पहुँचाना, इनका तिरस्कार नहीं करना और उन्हें धोखेमें नहीं डालना—यह तो धर्म है ही, परन्तु अहिंसा और अचौर्य धर्मोंकी सीमा केवल इस तरहके अधर्मसे निवृत्ति रूपमें ही नहीं समाप्त हो जाती है प्रत्युत इस निवृत्तिके आगे इनका कुछ प्रवृत्तिपरक रूप भी होता है। इसलिये उक्त प्रकारसे अहिंसा और अचौर्यवृत्तिके धारक मनुष्यको तीर्थंकर महावीरकी देशनामें यह उपदेश दिया गया है कि दूसरोंके प्रति हित-मित-प्रिय वचन बोलो, उनके साथ सहानुभूति और सहृदयताका व्यवहार भी करो तथा आवश्यकतानुसार उन्हें यथाशक्ति तन-मन-धनसे सहायता भी पहुँचाओ। इस तरह अहिंसादि पाँच धर्मोंमें समाविष्ट सत्य-धर्म और क्षमा आदि दश धर्मोंमें समाविष्ट सत्य धर्म—इन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं रह जाता है। ये अहिंसा आदि तीन धर्म और क्षमा आदि चार धर्म लौकिक धर्म ही हैं, कारण कि ये सभी मानव-संगठनकी स्थिरताके आधार हैं।

'कुशील' शब्दका लौकिक दृष्टिसे अर्थ होता है—पर वस्तुओंका जीवनको हानिकर एवं अमर्यादित होकर उपभोग करना, इसलिए इससे विपरीत अर्थके बोधक ब्रह्मचर्य धर्मका समावेश संयम धर्ममें होता है। परन्तु यहाँ पर इतना और ध्यान रखना चाहिए कि पारमार्थिक धर्मकी ओर बढ़ने वाले मनुष्यके लिए जो उपभोग आज आवश्यक है, कल वह उसे अनावश्यक भी हो जाता है। अतः ऐसे अनावश्यक उपभोगका त्याग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्ममें और अन्ततोगत्वा आकिंचन्य धर्ममें समाविष्ट होता है। लोकमें और धर्मग्रन्थोंमे ब्रह्मचर्य धर्मका जो पर-पुरुष या पर-स्त्री-रमणका त्याग अथवा आगे स्वपुरुष और स्वस्त्री-रमणका भी त्याग अर्थ किया जाता है वह यद्यपि मिथ्या नहीं है परन्तु वह अपूर्ण अवश्य है, कारण कि मनके वशीभूत होकर अथवा शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए जितना पर वस्तुओंका अवलम्बन जीवनमें लिया जाता है वह सभी कुशीलमें अन्तर्भूत होता है। इसलिए परवस्तुओंके अवलम्बनका मानसिक दृष्टिसे तो सर्वथा त्याग हो जाना तथा शारीरिक दृष्टिसे शक्तिके अनुसार त्यागकर देना ही ब्रह्मचर्य धर्म है।

'अपरिग्रह' शब्दके दो अर्थ होते हैं—एक तो ईषत् परिग्रह (संग्रह) अर्थात् परिग्रह (संग्रह) का परिमाण और दूसरा परिग्रह (संग्रह) का त्याग। इस तरह परिग्रहके परिमाण रूप अपरिग्रह धर्मका समावेश लौकिक धर्म होनेके कारण शौच धर्ममें और परिग्रहके त्याग रूप अपरिग्रह धर्मका समावेश पारमार्थिक धर्मके रूपमें त्याग तथा आकिंचन्य धर्ममें होता है। और अन्तमें उपभोग तथा परिग्रह दोनोंका त्याग दशम ब्रह्मचर्यमें अन्तर्भूत होता है।

यदि उक्त पाँचों पापोंके उद्भवके सम्बन्धमें विचार किया जाय तो समझमें आ जायगा कि उनमेंसे कुशील (भोग) और परिग्रह (संग्रह) ये दोनों पाप जीवकी लोभ-वृत्तिके परिणाम हैं तथा हिंसा, झूठ और चोरी क्रोध, मान और माया-वृत्तिके परिणाम हैं लेकिन इनमें यदि परस्परके कार्यकारणभावपर विचार किया जाय, तो कहा जा सकता है कि कुशील (भोग) और परिग्रह (संग्रह) ये दोनों पाप ही सब पापोंके मूल हैं क्योंकि प्रायः देखनेमें आता है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वार्थपूर्तिके लिये ही हिंसा करनेमें उद्यत होता है, झूठ बोलता है और चोरी भी करता है। इस तरह कहना चाहिए कि सबसे भयंकर पाप जीवकी स्वार्थ-वृत्तिका परिचायक लोभ ही है। यही कारण है कि चरणानुयोग-आगममें "लोभ पापका बाप बखाना"के रूपमें लोभको पापका बाप कहकर पुकारा गया है।

इस प्रकार धर्मकी चाहे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप व्याख्या की जावे, चाहे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप व्याख्या की जावे अथवा चाहे क्षमा आदि उपर्युक्त दश धर्म रूप व्याख्या की जावे—इन सभी व्याख्याओंमें भावका कुछ भी अन्तर नहीं है। अर्थात् ये सभी प्रकारके धर्म पूर्वोक्त प्रकार धर्मके लौकिक और पारमार्थिक दोनों वर्गोंमें समाविष्ट होते हैं। इसी धर्मका एक प्रकार जो धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थोंके समन्वयरूप त्रिवर्गके रूपमें व केवल धर्म पुरुषार्थकी स्थितिको प्राप्त मोक्ष-पुरुषार्थरूप अपवर्गके रूपमें बतलाया गया है वह भी त्रिवर्गके रूपमें तो धर्मके लौकिक वर्गमें और अपवर्गके रूपमें धर्मके पारमार्थिक वर्गमें समाविष्ट होता है।

यहाँपर मैं इतना और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि तीर्थंकर महावीरकी देशनाके अनुसार धर्मका सद्भाव सम्यग्दर्शनके रूपमें देवगति और नरक गतिमें तथा सम्यग्दर्शन और यत्किंचित् चारित्रके रूपमें तिर्यग्गतिमें भी स्वीकार किया गया है। परन्तु लोकमें और धर्मग्रन्थों (चरणानुयोग) में धर्मके विषयमें जो कुछ सोचा और कहा गया है, उसमें मुख्यतया मानव-जीवनको ही लक्ष्य बनाया गया है। वास्तवमें बात भी ऐसी है कि धर्मका जो महत्त्व मानव-जीवनमें प्रस्फुटित होता है वह नारकियों, देवों और तिर्यंचोंके जीवनमें प्रस्फुटित नहीं होता, क्योंकि संसारमें मानव ही ऐसा प्राणी है जिसे अपना जीवन सुखमय बनानेके लिए मानव-समाजको लेकर संगठनात्मक प्रयत्न करना और अपने जीवनके अधिकारोंकी सीमा निर्धारित करना अनिवार्य होता है तथा मोक्षकी प्राप्ति भी मानव-जीवनसे ही होती है।

इस तरह चरणानुयोगकी दृष्टिसे निर्णीत किया जाय, तो तीर्थंकर महावीरका तत्त्वज्ञान धर्मतत्त्वके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूपमें ही निर्णीत होता है और यह धर्मतत्त्व जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है––लौकिक तथा पारमार्थिक सुखमें कारणभूत लौकिक और पारमार्थिक धर्मोंके रूपमें विभक्त हो जाता है। इस धर्मतत्त्वको इसी रूपमें यदि प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक कुटुम्ब, प्रत्येक नगर और प्रत्येक देश––इस तरह सम्पूर्ण विश्वकी मानव जाति हृदयंगम करके अपने जीवनका अंग बना ले तो एक तो विश्वमें सर्वत्र संघर्षकी स्थिति समाप्त होकर परस्पर प्रेमभावका संचार हो सकता है; दूसरे प्रत्येक मानव अन्तमें अपने महान लक्ष्य पूर्वोक्त पारमार्थिक सुखकी प्राप्तिकी ओर भी यथाशक्ति अग्रसर हो सकता है।

यद्यपि तीर्थंकर महावीरका तत्त्वज्ञान द्रव्यानुयोगकी दृष्टिसे छह प्रकारके द्रव्योंके रूपमें व करणानुयोग की दृष्टिसे सप्ततत्त्व या नवतत्त्वोंके रूपमें भी निर्णीत होता है। साथ ही इस सभी प्रकारके तत्त्वज्ञानकी व्यवस्थाके लिए तीर्थंकर महावीरकी देशनामें कर्मवाद, अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और सप्तभंगीवाद तथा प्रमाणवाद और नयवादकी भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। परन्तु जिस प्रकार ऊपर धर्मतत्त्वकी विस्तारसे विवेचना की गयी है, उसी प्रकार इन सबकी विवेचना भी विस्तारकी अपेक्षा रखती है, जो कि स्वतन्त्र रूपसे अनेक लेखोंका रूप धारण करने योग्य है। अतः आवश्यक होकरके भी इन सबपर लेखमें विचार नहीं किया गया है। ये सभी विषय आवश्यक इसलिए हैं कि इनका सम्बन्ध मनुष्यके पारमार्थिक जीवनसे तो है ही, परन्तु उसके लौकिक जीवनसे भी कम सम्बन्ध नहीं है क्योंकि विचारकर देखा जावे तो समझमें आ सकता है कि प्रत्येक मनुष्य का एक क्षण भी इनके बिना नहीं व्यतीत होता अर्थात् प्रत्येक मनुष्य अपने जीवनके प्रत्येक क्षणमें इनका उपयोग तो करता ही रहता है, परन्तु इनके स्वरूपसे वह हमेशा अनभिज्ञ बना हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org